जैन शास्त्रों में आहार विज्ञान

डॉ० एन० एल० जैन
जैन केन्द्र, रीवाँ (म० प्र०)

भारतीय संस्कृति में धर्म को एक विशेष प्रकार की जीवन-पद्धति माना गया है। यही कारण है कि इसमें गर्भ से मृत्यु तक, पूर्वजन्म से उत्तर-जन्म तक, प्रातःकाल से दूसरे सूर्योदय तक के सभी भौतिक और आध्यात्मिक विषय चार वर्गों में (कथा-पुराण, आचार शास्त्र, लौकिक विद्यायें और गणित) विभाजित कर संक्षेप से लेकर अतिविस्तार तक प्रतिपादित किये गये हैं। इसका केन्द्र विन्दु मुख्यतः मानव-जाति है पर मानवेतर समुदायों की चर्चा भी इसमें पर्याप्त मात्रा में है। विश्व में विद्यमान मानव एवं मानवेतर समुदायों की समग्र संज्ञा 'जीव' है। पहले जीव और जीवन शब्दों में विशेष अन्तर नहीं माना जाता था। 'सब्बेसिं जीवणं पियं'। पर अब जीव (living) को सादि-सान्त (संसारी) और जीवन (life) को अनादि-अनन्त कहते हैं। हम यहाँ जीव की एक अनिवार्य आवश्यकता—आहार—के विषय में चर्चा करेंगे क्योंकि इसके बिना वह संसार में अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। धर्म और अध्यात्म को भी विकसित नहीं कर सकता। संसार की कष्टमयता के वर्णन के बावजूद भी प्रत्येक प्राणी उसके बाहर नहीं जाना चाहता। शास्त्रों में जीव को मृत्यु के प्रति निर्भयता का दृष्टिकोण विकसित किया गया है, पर सामान्य मानव प्रकृति अभी भी मृत्यु को टालना ही चाहती है। इसलिये वह उसके कारणों पर विजय प्राप्त कर अतिजीविता को प्रश्रय देता लगता है। ये प्रयत्न इस बात के प्रतीक हैं कि वह संसार व उसके परिवेश को दुःखमय मानने की शास्त्रीय शिक्षा को तात्त्विक महत्त्व नहीं देता दिखता। लगता है, उसे यहाँ सुख अधिक और दुःख कम प्रतीत होता है। वह अन्दर से स्वामी सत्यभक्त की ऐसी ही मान्यता से अधिक प्रभावित दिखता है।[1]

आहार की दृष्टि से जीवों की दो श्रेणियाँ माननी चाहिये : प्रथम श्रेणी में सभी प्रकार के वनस्पति आते हैं। ये अपना आहार स्वयं बनाते हैं (स्वयंपोषी)। दूसरी श्रेणी में त्रस जीव आते हैं। ये अन्य जीवों को अपना आहार बनाते हैं (पर-पोषी)। आहार सभी जीवों के अस्तित्व एवं अतिजीविता के लिये अनिवार्य आवश्यकता है। इसके विषय में जैन शास्त्रों में पर्याप्त विवरण मिलता है। वहाँ इसे आहार वर्गणा, आहार पर्याप्ति, आहारक शरीर, आहार प्रत्याख्यान, आहार परीषह तथा आहार दान आदि के रूप में सहचरित किया गया है। ये पद आहार के विभिन्न रूपों व फलों को प्रकट करते हैं। प्रारम्भ में, समाज के मार्गदर्शक साधु एवं आचार्य होते थे। वे प्रायः साधुधर्म का ही उपदेश करते थे। इसीलिये प्राचीन शास्त्रों में साधु-आचार की ही विशेष चर्चा पाई जाती है। आचारांग, दशवैकालिक, मूलाचार, भगवती आराधना आदि श्रावकाचार के विषय में मौन हैं। तथापि अनेक आचार्यों ने श्रावकधर्म पर ध्यान दिया है। उन्होंने इसे द्वादशांगी में उपासकदशा नामक सप्तम अंग बताया है। यह स्पष्ट है कि साधुओं की तुलना में श्रावकों की स्थिति द्वितीय है, अतः उनसे सम्बन्धित उपदेशों को अमृतचंद्र सूरि[2] तक ने निग्रहस्थानी माना है। फिर भी, कुंदकुंद ने चरित्र प्राभृत[3] में छह गाथाओं में श्रावकों के चारित्र का ११ प्रतिमाओं और १२ व्रतों के रूप में उल्लेख किया है। उसमें कुछ परिवर्धन करते हुए उमास्वामी[4] ने तत्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय के १८ सूत्रों में इसका वर्णन किया है। आचार्य समन्तभद्र ने 'न धर्मो धार्मिकैर्बिना' के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधार पर श्रावकाचार पर सर्वप्रथम ग्रन्थ 'रत्नकरंडश्रावकाचार'[५] लिखा। उसके बाद अनेक आचार्यों ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों की तुलना में साधु-आचार पर कम ही ग्रन्थ लिखे गये हैं (सारणी—१)।

सारणी १. श्रावकाचार के प्रमुख जैन ग्रन्थ

क्रमांक	आचार्य	समय	ग्रन्थनाम
१.	कुंदकुंद	१–२ सदी	चरित्र प्राभृत
२.	उमास्वामी	२–३ सदी	तत्वार्थ सूत्र
३.	समन्तभद्र	५ सदी	रत्नकरंडश्रावकाचार
४.	आ० जिनसेन	८ सदी	आदि पुराण
५.	सोमदेव	१० सदी	उपासकाध्ययन
६.	अमृतचन्द्र सूरि	१० सदी	पुरुषार्थसिद्धयुपाय
७.	अमित गति–२	१०–११ सदी	अमितगतिश्रावकाचार
८.	वसुनंदि	११ सदी	वसुनंदिश्रावकाचार
९.	पद्मनंदि	११ सदी	पद्मनंदिपंचविंशतिका
१०.	पं० आशाधर	१२–१३ सदी	सागारधर्मामृत
११.	पं० दौलतराम काशकीवाल	१६९२–१७७२	जैन क्रियाकोष
१२.	आ० कुंथुसागर	२० सदी	श्रावकधर्म प्रदीप

मूलाचार और भगवती आराधना के बाद १३वीं सदी का अनागार धर्मामृत ही आता है। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न युगों के आचार्यों ने श्रावकों के आचार की महत्ता स्वीकृत की है। श्रावक वर्ग न केवल साधुओं का भौतिक दृष्टि से संरक्षक है, अपितु वहीं श्रमणवर्ग का आधार है क्योंकि उत्तम श्रावक ही उत्तम साधु बनते हैं। श्रावक श्रमण धर्म की प्रतिष्ठा का प्रहरी एवं रक्षक है। वर्तमान श्रावक भूतकालीन परम्परा से अनुप्राणित होता है और भविष्य की परम्परा को विकसित करता है।[६] अतः आचार्यों ने उनके विषय में ध्यान दिया, यह न केवल महत्त्वपूर्ण है, अपितु प्रशंसनीय भी है।

आहार की परिभाषा

श्रावक या मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण अनेक कारकों से होता है : परम्परा, संस्कार, मनोविज्ञान, परिवेश, समाज एवं आहार-विहार आदि। इनमें आहार प्रमुख है। "जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन," "जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी," आदि लोकोक्तियाँ इसी तथ्य को प्रकट करती हैं। यद्यपि ये देशकाल सापेक्ष हैं, फिर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।[७] धार्मिक दृष्टि से पल्लवित कर्मवाद के अनुसार, आहार शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान एवं संहनन नामकर्म के उदय में निमित्त होता है।[८] यह शरीरान्तर ग्रहण करने हेतु एकाधिक समय की विग्रहगति में भी होता है। वस्तुतः आहार शब्द की अवधारणा ही आ-समन्तात्-चारों ओर या परिवेश से, हरति-गृह्णाति-ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यों के आधार पर स्थापित है। पूज्यपाद और अकलंक[९] ने तीन स्थूल शरीर और उनको चालित करने वाली ऊर्जाओं (छह पर्याप्तियों) के निर्माण के लिये कारणभूत पुद्गल वर्गणाओं (सूक्ष्म, स्थूल, द्रव, गैस व ठोस द्रव्य) के अन्तर्ग्रहण को आहार कहा है। फलतः, वर्तमान में आहार या भोजन के रूप में ग्रहण किये जाने वाले सभी द्रव्य तो आहार हैं ही। इसके अतिरिक्त, जैनमत के अनुसार, ज्ञान, दर्शन आदि कर्म और हास्य, दुख, शोक, भय, घृणा, लिंग, इच्छा, अनिच्छा आदि नोकर्म भी ऊर्जात्मक सूक्ष्म द्रव्य हैं। अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनका भी परिवेश से अन्तर्ग्रहण आहार कहलाता है। इस दृष्टि से जैनों की 'आहार' शब्द की परिभाषा, आज की वैज्ञानिक परिभाषा से, पर्याप्त व्यापक मानना चाहिये। इसमें भौतिक द्रव्यों के साथ भावनात्मक तत्वों का अन्तर्ग्रहण भी समाहित किया गया है। इसलिये आहार के शारीरिक प्रभावों के साथ मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी जैन शास्त्रों में प्राचीन काल से ही माने जाते हैं। आहार विशेषज्ञों ने आहार के भावनात्मक प्रभावों से सह-सम्बन्धन की पुष्टि पिछली सदी के अन्तिम दशक में ही कर पाई है।

आहार की आवश्यकता, लाभ या उपयोग : वैज्ञानिक परिभाषा

जैन आचार्यों ने प्राणियों के लिये आहार की आवश्यकता प्रतिपादित करने हेतु अपने निरीक्षणों को निरूपित किया है। उत्तराध्ययन में बताया है कि आहार के अभाव में शरीर काकजंघा तृण के समान दुर्बल हो जाता है, धमनियाँ स्पष्ट नजर आने लगती हैं।[१०] भूखे रहने पर प्राणी की क्रियाक्षमता घट जाती है। मूलाचार के आचार्य[११] ने देखा कि आहार की आवश्यकता दो कारणों से होती है : (i) भौतिक और (ii) आध्यात्मिक। वस्तुतः भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति से ही आध्यात्मिक लक्ष्य सधता है, "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं"। इन्हें सारणी २ में दिया गया है।

सारणी २ : **आहार के शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक लाभ**

(अ) **भौतिक लाभ : शास्त्रीय दृष्टिकोण**	**वैज्ञानिक दृष्टिकोण**
(i) शरीर में बल (ऊर्जा) बढ़ता है।	(i) आहार शरीर की मूलभूत एवं विशिष्ट क्रियाओं में सहायक होता है।
(ii) जीवन का आयुष्य बढ़ता है।	(ii) यह शरीर कोशिकाओं के विकास, संरक्षण व पुनर्जनन में सहायक होता है।
(iii) शरीर-तंत्र पुष्ट (कार्यक्षम) रहता है।	(iii) यह रोग प्रतीकारक्षमता देता है।
(iv) शरीर की कांति बढ़ती है।	(iv) शरीर की कार्यप्रणाली को संतुलित एवं नियंत्रित करता है।
(v) जीवन सुस्वादु होता है।	(v) यह शरीर क्रियाओं को आवश्यक ऊर्जा प्रदान करता है।
(vi) भूख की प्राकृतिक अभिलाषा शांत होती है।	
(vii) दशों प्राण सन्धारित रहते हैं।	
(viii) आहार औषध का कार्य भी करता है।	
(ix) इससे दूसरों की वैयावृत्य की जा सकती है।	
(x) इससे तप और ध्यान में सहायता मिलती है।	
(ब) **आध्यात्मिक लाभ**	
(१) यह चरम आध्यात्मिक लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्ति का साधन है।	—
(२) यह धर्मपालन के लिये आवश्यक है।	—
(३) इससे ज्ञानप्राप्ति में सरलता होती है।	—

आशाधर[१२] के अनुसार, शरीर का स्थिति के लिये आहार आवश्यक है। स्थानांग[१३] में आहार से मनोज्ञता, रसमयता, पोषण, बल, उद्दीपन और उत्तेजन की बात कही है। शारीरिक बल पुष्टि, कान्ति और रोग-प्रतीकार क्षमता का ही प्रतीक है। स्वामिकुमार[१४] तो क्षुधा और तृषा को प्राकृतिक व्याधि ही मानते हैं। उनके अनुसार आहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से प्राणधारण और शास्त्राभ्यास-दोनों संभावित हैं। कुंदकुंद[15] भी यह मानते हैं कि आहार ही मांस, रुधिर आदि में परिणत होता है। फलतः यह स्पष्ट है कि आहार के शास्त्रीय उद्देश्य वे ही हैं जिन्हें हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं। इन्हें यदि आधुनिक भाषा में कहा जावे, तो यह कह सकते हैं कि शरीर-तंत्र में सामान्यतः दो प्रकार की क्रियायें होती हैं: सामान्य एवं विशेष। सामान्य क्रियाओं में श्वासोच्छावास या प्राणधारण की क्रिया, पाचन क्रिया आदि तथा विशेष क्रियाओं में आजीविका सम्बन्धी कार्य, लिखना-पढ़ना, श्रम, तप और साधना आदि समाहित हैं। आज के आहार-विज्ञानियों ने जीव शरीर की कोशिकीय संरचना और क्रियाविधि के आधार पर सारणी २ में दिये गये आहार के तीन अतिरिक्त उद्देश्य भी बताये हैं। इनका उल्लेख शास्त्रों में प्रत्यक्षतः नहीं पाया जाता। वैज्ञानिक शरीर की स्थिति के अतिरिक्त विकास, सुधार व पुनर्जनन हेतु भी आहार को आवश्यक मानते हैं। यह तथ्य मानव की गर्भावस्था से बाल, कुमार, युवा एवं प्रौढअवस्था के निरन्तर विकासमान रूप तथा रुग्णता या कुपोषण के समय आहार-की गुणवत्ता के परिवर्तन से होने वाले लाभ से स्पष्ट होता है।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में वैज्ञानिकों ने पाया कि कोई कार्य, गति या प्रक्रिया भीतरी या बाहरी ऊर्जा के बिना नहीं हो सकती। शरीर-संबन्धित उपरोक्त कार्य भी ऊर्जा के बिना नहीं होते। इसलिये यह सोचना सहज है कि आहार के विभिन्न अवयवों से शरीर के विभिन्न कार्यों के लिये ऊर्जा मिलती है। यह ऊर्जा-प्रदाय उसके चयापचय में होने वाले जीव-रासायनिक, शरीर क्रियात्मक एवं रासायनिक परिवर्तनों द्वारा होता है। यह ज्ञात हुआ है कि सामान्य व्यक्ति के लिये उपरोक्त लक्ष्यों के पूर्ति के लिए लगभग दो हजार कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अतः हमारे आहार का एक लक्ष्य यह भी है कि उसके अन्तर्ग्रहण एवं चयापचय से समुचित मात्रा में ऊर्जा प्राप्त हो। इस प्रकार, वैज्ञानिक दृष्टि से आहार ऐसे पदार्थों या द्रव्यों का अन्तर्ग्रहण है जिनके पाचन से शरीर की सामान्य-विशेष क्रियाओं के लिये ऊर्जा मिलती रहे। यह परिभाषा शास्त्रीय परिभाषा का विस्तृत एवं वैज्ञानिक रूप है। इसमें गुणात्मकता के साथ परिमाणात्मक अंश भी इस सदी में समाहित हुआ है।

आहार के भेद-प्रभेद

जैन शास्त्रों में आहार को दो आधारों पर वर्गीकृत किया गया है: (i) आहार में प्रयुक्त घटक और (ii) आहार के अन्तर्ग्रहण की विधि। प्रथम प्रकार के वर्गीकरण को सारणी ३ में दिया गया है। इससे प्रकट होता है कि मुख्यतः आहार के चार घटक माने गये हैं जिनमें कहीं कुछ नाम व अर्थ में अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में आहार के केवल दो ही घटक माने जाते थे: भक्त (ठोस खाद्यपदार्थ) और पान (तरल खाद्य पदार्थ) या पान और भोजन (भक्तपान, पानभोजन)[16]। यह शब्द विपर्यय भी कब-कैसे हुआ, यह अन्वेषणीय है। प्रज्ञापना[17] में सजीव (पृथ्वी, जलादि), निर्जीव (खनिज लवणादि) एवं मिश्र प्रकार के त्रिघटकी आहार बताये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि आहार के घटकगत चार या उससे अधिक भेद उत्तरवर्ती हैं। मेहता[18] ने आवश्यक सूत्र का उद्धरण देते हुए औषध एवं भेषज को भी आहार के अन्तर्गत समाविष्ट करने का सुझाव दिया है। इनमें अशन और खाद्य एकार्थक लगते हैं। पर दो पृथक् शब्दों से ऐसा लगता है कि अशन से पक्वान्न (ओदनादि) का और खाद्य से कच्चे खाये जाने वाले पदार्थों (खजूर, शर्करा) का बोध होता है। पर एकाधिक स्थान में पुआ, लड्डू आदि को भी इसके उदाहरण के रूप में दिया गया है। अतः अशन और खाद्य के अर्थों में स्पष्टता अपेक्षित है। इसी प्रकार अशन, खाद्य और भक्ष्य के अर्थ भी स्पष्टनीय हैं। पान, पेय और पानक भी स्पष्ट तो होने ही चाहिये। आशाधर[19] ने लेप को भी आहार माना है और तैलमर्दन का उदाहरण दिया है। इसमें तेल का किंचित् अन्तर्ग्रहण तो होता ही है। बृहत्कल्पभाष्य में साधुओं के लिये तीन आहारों का वर्णन किया है जो स्नेह और रस विहीन आहार के द्योतक हैं। मूलाचार[20] में चार और छह-दोनों प्रकार के घटक बताये गये हैं। ऐसे ही कुछ वर्णनों से इसे संग्रह ग्रन्थ कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारणी ३. आहार के घटकगत भेद

	दशवैकालिक	मूलाचार १	मूलाचार २	रत्नकरंड श्रावकाचार	सागार धर्मामृत	अना० धर्मामृत	उदाहरण
१.	अशन	अशन	अशन	—	—	अशन	ओदनादि
२.	पान	पान	पान	—	—	पान	जल, दुग्धादि
३.	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खजूर, लड्डू
४.	स्वाद्य	स्वाद्य	—	स्वाद्य	स्वाद्य	स्वाद्य	पान, इलायची
५.	—	—	भक्ष्य	—	—	—	मंडकादि
६.	—	—	लेह्य	लेह्य	—	—	लप्सी, हलुआ
७.	—	—	पेय	पेय	पेय	—	जल, दुग्ध
८.	—	—	—	—	लेप	—	तैल मर्दन

'अशन' कोटि का विस्तृत निरूपण देखने में नहीं आया है। इसका उद्देश्य क्षुधा-उपशमन है। इस कोटि में मुख्यतः अन्न या धान्य लिया जा सकता है। यद्यपि श्रुतसागर सूरि ने धान्य के ७ या १८ भेद बताये हैं, पर पूर्ववर्ती साहित्य[२१] में २४ प्रकार के धान्यों का उल्लेख है। इनमें वर्तमान में इक्षु और धनिया को धान्य नहीं माना जाता। इसलिये श्रुतसागर[२२] की सूची में भी इनका नाम नहीं है। प्राचीन साहित्य[२३] में पेय पदार्थों के सामान्यतः तीन भेद माने गये हैं पर आशाधर[२४] ने सभी को पानक मानकर उसके छह भेद बताये हैं (सारणी ४)। आचारांग में २१ पानकों का उल्लेख है। व्रतविधान संग्रह में 'कांजी' जाति को पृथक् गिनाया गया है पर उसे 'पानक' में ही समाहित मानना चाहिये। यह स्पष्ट है कि आशाधर के छह पानक पूर्ववर्ती[२५] आचार्यों से नाम व अर्थ में कुछ भिन्न पड़ते हैं। अशन की तुलना में पानकों को प्राणानुग्रही माना जाता है।

अन्तर्ग्रहण-विधि पर आधारित भेद

भगवती सूत्र और प्रज्ञापना[२६] में अन्तर्ग्रहण की विधि पर आधारित आहार के तीन भेद बताये गये हैं: ओजाहार, रोमाहार और कवलाहार। इसके विपर्यास में वीरसेन ने धवला[२७] में छह आहार बताये हैं: ऊष्मा या ओजाहार, लेप या लेप्याहार, कवलाहार, मानसाहार, कर्माहार, नोकर्माहार। वहाँ यह भी बताया गया है कि विग्रहगति-समापन्न जीव, समुद्घातगत केवली और सिद्ध अनाहारक होते हैं। लोढ़ा[२६] ने वनस्पतियों के प्रकरण में ओजाहार को स्वांगीकरण (एसिमिलेशन) कहा है, यह त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। इस शब्द का अर्थ अन्तर्ग्रहण के बाद होने वाली क्रिया से लिया जाता है जिसे अन्नपाचन कह सकते हैं। वस्तुतः इसे शोषण या एवसोर्प्शन मानना चाहिये जो बाहरी या भीतरी-दोनों पृष्ठ पर हो सकता है। हमारे शरीर या वनस्पतियों द्वारा सौर ऊष्मा एवं वायु का पृष्ठीय अवशोषण इसका उदाहरण है। इसीलिये इसे महाप्रज्ञ ने ऊर्जाहार का ही नाम दिया है।[४१] लेप्याहार को भी इसी का एक रूप माना जा सकता है। रोमाहार को विसरण या परासरण प्रक्रिया कह सकते हैं। यह केवल वनस्पतियों में ही नहीं, शरीर-कोशिकाओं में निरन्तर होता रहता है। कवलाहार तो स्पष्ट ही मुख से लिये जाने वाले ठोस एवं तरल पदार्थ हैं। ये तीनों प्रकार के आहार सभी जीवों के लिये समान्य हैं। जब भावों और संवेगों का प्रभाव भी जीवों में देखा गया, तब विभिन्न कर्म, नोकर्म एवं मनोवेगों को भी अहार की श्रेणी में समाहित किया गया। यह सचमुच ही आश्चर्य है कि भारत में इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवलोकन नवमी सदी में ही कर लिया गया था। ये तीनों ही सूक्ष्म या ऊर्जात्मक पुद्गल हैं। अंतरंग या बहिरंग परिवेश से रोमाहार द्वारा इनका अन्तर्ग्रहण होता है और अनुरूपा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारणी ४. अशन/धान्य तथा पानकों के विविध रूप

निशीथचूर्णि	श्रुतसागर		पानक, ६	पानक, ६
(अ) कार्बोहाइड्रेटो				
१. गेहूँ	१ गेहूँ	१. गेहूँ	(सा० धर्मामृत)	(भ० आ०)
२. शालि	२ शालि	२. शालि	१. घन (दही आदि)	(स्वच्छ नीबू रस)
३. व्रीहि	—	—		
४. षष्ठिक	३ यव	३. यव	२. तरल (अम्ल रस)	बहुल फल रस
५. यव	—	४. कोद्रव	३. लेपि	लेपि (दही)
६. कोद्रव		५. कंगु (धान विशेष)	४. अलेपि	अलेपि —
७. कंगु				
८. रालक	—	६. रालक ,,	५. ससिक्थ	स-सिक्थ (दूध)
		७. मठवैणव (ज्वार)	६. असिक्थ	असिक्थ (मांड)
(ब) प्रोटीनी				पेय, ३
९. मूंग	४. मूंग	८. मूंग		१. पान (सुरायें, मद्य)
१० उड़द	५. उड़द	९. उड़द		२. पानीय (जल)
११. चना	६. चना	१०. चणक		३. पानक (फल रसादि)
१२. अरहर	७. अरहर	११. अरहर		
१३. राजमाष				
१४. अतीसंद (मटर)	—	१२. राजभाष (रमासी)		
१५. मसूर	—	१३. मकुष्ठ (वनमूंग)		
१६. कालोय (मटर)	—	१४. सिंवा (सेम)		
१७. अणुक (सेम ,	—			
१८. निष्पाव (मटवनास)	—	१५. कीनाश (मसूर)		
१९. कुलथी (बटरा)	—	१६. कुलथी (बटरा)		
(स) वसीय				
२०. तिल	—	१७. सर्षप		
२१. अलसी	—	१८. तिल		
२२. त्रिपुड	—	—		
(द) विविध				
२३. इक्षु	—			
२४. धनियाँ	—	—		

परिणाम होता है। फलतः वीरसेन के अन्तिम तीन आहार सामग्री-विशेष को द्योतित करते हैं, विधि-विशेष को नहीं। अतः अन्तर्ग्रहण विधि पर आधारित आहार तीन प्रकार का ही उपयुक्त मानना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घटक-मन भेदों का वैज्ञानिक समीक्षण

आधुनिक वैज्ञानिक मान्यतानुसार,[२८] आहार के छह प्रमुख घटक होते हैं :

नाम		उदाहरण	ऊर्जा के०
१. कार्बोहाइड्रेटी या शर्करामय पदार्थ	:	गेहूँ, चावल, यव, ज्वार, कोदों, कंगु	४·०/g
२. वसीय पदार्थ	:	सर्षप, तिल, अलसी	९·०/g
३. प्रोटीन पदार्थ	:	माष, मूंग, चना, अरहर, मटर	४·०/g
४. खनिज पदार्थ	:	फल-रस, शाक-भाजी	—
५. विटामिन-हार्मोनी पदार्थ	:	गाजर, संतरा, आंवला	—
६. जल	:	शोधित, छनित जल	—

वैज्ञानिक विभिन्न प्राकृतिक खाद्य पदार्थों को उनके प्रमुख घटक के आधार वर्गीकृत करते हैं क्योंकि उनमें इसके अतिरिक्त अन्य उपयोगी घटक भी अल्पमात्रा में पाये जाते हैं। ये अल्पमात्रिक घटक खाद्यों की सुपाच्यता, पार्श्वप्रभाव-रहितता तथा ऊर्जा प्रभाव को नियन्त्रित करते हैं। यदि हम शास्त्रीय विवरण का इस आधार पर अध्ययन करें, तो प्रतीत होता है कि अशनादि घटक (अशन : ठोस; पान : द्रव; खाद्य, फल-मेवे; स्वाद्य: विटामिनादि) विशिष्ट आहार वर्ग को निरूपित करते हैं। उस समय रासायनिक विश्लेषण के आधार पर तो वर्गीकरण सम्भव नहीं था, अतः केवल अवस्था (ठोस, द्रव एवं गैसीय अवस्था की धारणा भी नगण्य थी) के आधार पर ही वर्गीकरण सम्भव था। अशन को धान्य जातिक मानने पर यह देखा जाता है कि उसके ७।१८।२४ भेदों में वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा मान्य तीन प्रमुख कोटियां समाहित हैं। पान को द्रव-आहार मानने पर उसमें जल, फल-रस, द्राक्षा-जल, मांड, दूध, दही आदि समाहित होते हैं। इनमें भी वैज्ञानिकों द्वारा मान्य तीनों प्रमुख व अन्य कोटियों के पदार्थ हैं। मांड, द्राक्षाजल कार्बोहाइड्रेट हैं, दही प्रोटीन/वसीय है, नीबू, फल-रस विटामिन-खनिज तत्त्वी हैं। द्रवाहार से शरीर क्रियात्मक परिवहन एवं सन्तुलन बना रहता है। वैज्ञानिक जल को छोड़कर अन्य पानकों को उनके प्रमुख घटकों के आधार पर ही वर्गीकृत करते हैं। द्रव घटकों में प्रमुख कोटियों के अतिरिक्त दो अन्य कोटियां भी पाई जाती हैं।

खाद्य-घटक के अन्तर्गत, दिये गये उदाहरणों से इसमें मुख्यतः फल–मेवे और एकाधिक घटकों के मिश्रण से बने खाद्य आते हैं—पुआ, लड्डू, खजूर आदि। स्वाद्य कोटि के उदाहरणों से खनिज, ऐल्केलायड, तथा अल्पमात्रिक घटकी पदार्थों (पान, इलायची, लौंग, कालीमिर्च, औषध आदि) की सूचना मिलती है। इसे वैज्ञानिकों की उपरोक्त ४-५ कोटि में रखा जा सकता है।

उपरोक्त समीक्षण से यह स्पष्ट है कि शास्त्रीय विवरणों में आहार सम्बन्धी घटकगत वर्गीकरण व्यापक तो है, पर यह पर्याप्त स्थूल, मिश्रित और अस्पष्ट है। इसे अधिक यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। फिर भी, इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि जैन शास्त्रों में वर्णित आहार-विज्ञान में वर्तमान में मान्य सभी घटकों को समाहित करने वाले खाद्य पदार्थ सम्मिलित किये गये हैं। मधुसेन का यह मत सही प्रतीत होता है कि शास्त्रीय युग में सैद्धान्तिक दृष्टि से आहार के वर्तमान पौष्टिकता के सभी तत्व परोक्षतः समाहित थे।

उपरोक्त घटकों के उदाहरणों से एक मनोरंजक तथ्य सामने आता है। इनमें वनस्पतिज शाकभाजी, सामान्यतः समाहित नहीं हैं। वे किस कोटि में रखी जावें, यह स्पष्ट नहीं है। तथापि शास्त्रों में उनकी भक्ष्यता की दशाओं पर विचार किया गया है।

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

आहार का काल

कुंदकुंद[४२] और आशाधर[२९] ने बताया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल (रितुयें, दिन), भाव एवं शरीर के पाचन सामर्थ्य की समीक्षा कर शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिये भोजन करना चाहिये। यह तथ्य जितना साधुओं पर लागू होता है, उतना ही सामान्य जनों पर भी। निशीथ चूर्णि (५९०–६९० ई०) में बताया गया है कि एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में आहार-सम्बन्धी आदतें और परम्परायें भिन्न-भिन्न होती हैं। जांगल, अ-जांगल एवं साधारण क्षेत्र विशेषों के कारण मानव प्रकृति में विशिष्ट प्रकार से त्रिदोषों का समवाय होता है। यह आहार के घटकों का संकेत या नियन्त्रण करता है। विभिन्न रितुयें भी आहार की प्रकृति और परिमाण को परिवर्ती बनाती हैं। शरद-वसन्त रितु में रुक्ष अन्नपान, ग्रीष्म व वर्षा में शीत अन्नपान, हेमन्त एवं शिविर रितु में स्निग्ध एवं उष्ण आहार लेना चाहिये। उग्रादित्य[३०] ने तो दिन के विभिन्न भागों को ही छह रितुओं में वर्गीकृत कर तदनुसार खानपान का सुझाव दिया है :

पूर्वाह्न : वसन्त; मध्याह्न : ग्रीष्म अपराह्न : वर्षा;
आद्यरात्रि : प्रावृट्; मध्यरात्रि : शरद; प्रत्यूष : हेमन्त।

भगवती आराधना[३१] में कहा है कि रितु आदि की अनुरूपता के साथ क्षेत्र विशेष की परंपरा भी आहार-काल व प्रमाण को प्रभावित करती है। मूलाचार[३२] तो आहार को व्याधि शामक मानता है। यही नहीं, आहार को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उत्साहवर्धक एवं भावनात्मकतः संतुष्टि कारक भी होना चाहिये। यह प्रक्रिया आहार द्रव्यों और उनके पकाने की विधि पर भी निर्भर करती है। साधु तो ४६ दोषों से रहित शुद्ध भोजन, विकृति-रहित पर द्रव-द्रव्य युक्त विद्ध भोजन एवं उबला हुआ प्राकृतिक भोजन कर आनन्दानुभूति करता है पर सामान्य जन इसके विपरीत भी योग्यायोग्य विचार कर भोजन करते हैं।

आयुर्वेदिक दृष्टि से उग्रादित्य[33] का मत है कि भोजन काल तब मानना चाहिये जब (i) मलमूत्र-विसर्जन ठीक से हुआ हो (ii) अपानवायु निसरित हो चुकी हो (iii) शरीर हल्का लगे और इन्द्रियाँ प्रसन्न हों (iv) जठराग्नि उद्दीप्त हो रही हो और भूख लग रही हो (v) हृदय स्वस्थ हो और त्रिदोष साम्य में हो। नेमीचन्द्र चक्रवर्ती ने भी मनोभावनात्मक क्षुधानुभूति, असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा, आहार-दर्शन से होने वाली रुचि एवं प्रवृत्ति को आहार काल बताया है। आशाधर ने सूर्योदय से पेंतालीस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त से पौन घंटे पहले तक के काल को सामान्य जनों के लिये आहार काल बताया है। इसके विपयसि में, मूलाचार में साधुओं के लिये सूर्योदय से सवा घंटे बाद तथा सूर्यास्त से सवा घंटे पूर्व के लगभग १० घंटे के मध्य काल को आहार काल बताया गया है। उत्तम पुरुष दिन में एक बार और मध्यम पुरुष उपरोक्त समय सीमा में दिन में दो बार आहार लेते हैं। रात्रिभोजन तो जैनों में स्वीकृत ही नहीं है। इस प्रकार सामान्य मनुष्य का लगभग आधा जीवन उपवास में ही बीतता है।

मूलाचार और उत्तराध्ययन के अनुसार, मध्याह्न या दिन का तीसरा प्रहर आहार काल बैठता है। कृषकों के देश में यह काल उचित ही है। पर वर्तमान से आहार काल प्रायः पूर्वाह्न १२ बजे के पूर्व ही समाप्त हो जाता है। महाप्रज्ञ[३४] का मत है कि वास्तविक आहार काल रसोई बनने के समय के अनुरूप मानना चाहिये जो क्षेत्रफल के अनुरूप परिवर्ती होता है।

शास्त्रों में रात्रि भोजन के अनेक दोष बताये गये हैं। प्रारम्भ में आलोकित-पान-भोजन के रूप में इसकी मान्यता थी। तैल-दीपी रात्रि में विद्युत् की जगमगाहट आ जाने से प्राचीन युग के अनेक दोष काफी मात्रा में कम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गये हैं। इसलिये यह विषय परम्परा के बदले सुविधा का माना जाने लगा है। फिर भी, स्वस्थ, सुखी एवं अहिंसक जीवन की दृष्टि से इसकी उपयगिता को कम नहीं किया जा सकता। इसीलिये इसे जैनत्व के चिह्न के रूप में आज भी प्रतिष्ठा प्राप्त है।

आहार काल और अन्तराल की जैन मान्यता विज्ञान-सर्थित है।

आहार का प्रमाण

सामान्य जन के आहार का प्रमाण कितना हो, इसका उल्लेख शास्त्रों में नहीं पाया जाता। परन्तु भगवती आराधना, मूलाचार, भगवती सूत्र, अनागार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में साधुओं के आहार का प्रमाण बताते हुए कहा है कि पुरुष का अधिकतम आहार-प्रमाण ३२ ग्रास प्रमाण एवं महिलाओं का २८ ग्रास प्रमाण होता है। औपपातिक सूत्र[३५] में आहार के भार का 'ग्रास' यूनिट एक सामान्य मुर्गी के अण्डे के बराबर माना गया है जब कि बसुनन्दि ने मूलाचार वृत्ति[३६] में इसे एक हजार चावलों के बराबर माना है। अण्डे के भार को मानक मानना आगम युग में इसके प्रचलन का निरूपक है। बाद में सम्भवतः अहिंसक दृष्टि से यह निषिद्ध हो गया और तण्डुल को भार का यूनिट माना जाने लगा। यह तण्डुल भी कौन-सा है, यह स्पष्ट नहीं है। पर तण्डुल शब्द से कच्चा चावल ग्रहण करना उपयुक्त होगा। सामान्यतः एक अंडे का भार ५०-६० ग्राम माना जाता है, फलतः मनुष्य के आहार का अधिकतम दैनिक प्रमाण ३२ × ५० = १६०० ग्राम तथा महिलाओं के आहार-प्रमाण २८ × ५० = १४०० ग्राम आता है। बीसवीं सदी के लोगों के लिये यह सूचना अचरज में डाल सकती है, पर पद यात्रियों के युग में यह सामान्य हो मानी जानी चाहिये। इसके विपर्यास में एक हजार चावल के यूनिट का भार १२-१५ ग्राम होता है, इस आधार पर पुरुष का आहार प्रमाण ३२ × १५ = ४८० ग्राम और महिला का आहार-प्रमाण २० × १५ = ४२० ग्राम आता है। यह कुछ अव्यावहारिक प्रतीत होता है। यह 'यूनिट' संशोधनीय है। प्रमाण के विषय में 'ग्रास' के यूनिट को छोड़कर शास्त्रों में कोई मतभेद नहीं पाया जाता।

आहार का यह प्रभाव प्रमाणोपेत, परिमित व प्रशस्त कहा गया है। एक भक्त साधु के लिये यह एक वार के आहार का प्रमाण है, सामान्य जनों के लिये यह दो वार के भोजन का प्रमाण है। चतुःसमयी आहार-युग में यह दैनिक आहार प्रमाण होगा। संतुलित आहार की धारणा के अनुसार, एक सामान्य प्रौढ पुरुष और महिला का आहार-प्रमाण १२५०–१५०० ग्राम के बीच परिवर्ती होता है। आगमिक काल के चतुरंगी आहार में संभवतः जल भी सम्मिलित होता था।

शास्त्रों में आहार प्रकरण के अन्तर्गत आहार के विभाग भी बताये गये हैं। मूलाचार[३७] में, उदर के चार भाग करने का संकेत है। उसके दो भागों में आहार ले, तीसरे भाग में जल तथा चौथा भाग वायु-संचार के लिये रखे। इसका अर्थ यह हुआ कि भोजन का एक-तिहाई हिस्सा द्रवाहार होना चाहिये। इससे स्वास्थ्य ठीक रहेगा और आवश्यक क्रियायें सरलता से हो सकेंगी। उग्रादित्य ने आहार-परिमाण तो नहीं बताया, पर उसके विभाग अवश्य कहे हैं। सर्वप्रथम चिकने मधुर पदार्थ खाना चाहिये, मध्य में नमकीन एवं अम्ल पदार्थों को खाना चाहिये, उसके बाद सभी रसों के आहार करना चाहिये, सबसे अन्त में द्रवप्राय आहार लेना चाहिये। सामान्य भोजन में दाल, चावल, घी की बनी चीजें, कांजी, तक्र तथा शीत/उष्ण जल होना चाहिये। भोजनान्त में जल अवश्य पीना चाहिये। सामान्यतः यह मत प्रतिफलित होता है कि भूख से आधा खाना चाहिये। यह मत आहार की सुपाच्यता की दृष्टि से अति उत्तम है। शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि पौष्टिक खाद्य, अधपके खाद्य या सचित्त खाद्य खाने से वातरोग, उदरपीडा एवं मदवृद्धि होते हैं।[३८] नेमिचंद्र सूरि ने उदर के छह भाग किये हैं।[४३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य आहार घटकों में उपरोक्त विभाग निश्चित रूप से आधुनिक आहार विज्ञान के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। इसमें सन्तुलित आहार की धारणा का समावेश नहीं है। इसी कारण अधिकांश साधुओं में पोषक तत्वों का अभाव बना रहता है और उनका शरीर तप व साधना के तेज से दीपित नहीं रहता है। वह प्रभावक एवं अन्तःशक्ति गर्भित भी नहीं लगता। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह तथ्य महत्वपूर्ण नहीं है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से यह तथ्य महत्वपूर्ण नहीं है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसकी महान् भूमिका है।

भक्ष्याभक्ष्य विचार

जैन शास्त्रीय आहार विज्ञान में विभिन्न खाद्य पदार्थों की एषणीयता पर प्रारम्भ से ही विचार किया गया है। आचारांग, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, भास्करनन्दि, आशाधर और शास्त्री[३२] ने अभक्ष्यता के निम्न आधार बताये हैं। (सारणी ५)। इससे स्पष्ट है कि अभक्ष्यता का आधार केवल हिंसात्मकता ही नहीं है, इसके अनेक लौकिक आधार भी हैं। मानव के परपोषी होने के कारण इन सभी आधारों पर विचारणा स्वतन्त्र शोध का विषय है।

सारणी ५. अभक्ष्यता के आधार (शास्त्रीय)

आधार	कारण	उदाहरण
१. त्रसजीवघात, बहुजन्तुयोनिस्थान बहुघात। बहुवध।	दो या अधिकेन्द्रिय जीवों की स्थिति से हिंसा। त्रस-जीव हिंसा।	पंचोदुंबरफल, चलित रस, आचार-मुरब्बादि, मधु, मांस, द्विदल, रात्रिभोजन
२. स्थावर जीव घात (अनंतकायिक)	प्रत्येक/अनंतकाय वनस्पति जीवों को हिंसा।	कंदमूल, बहु बीजक, कोंपल, कच्चे फल
३. प्रमाद/मादकता बर्धक	आलस्य, उन्मत्तता, चित्त विभ्रम	मद्य, गांजा, भांग, चरसादि
४. रोगोत्पादकता/अनिष्टता	स्वास्थ्य के लिये अहितकर	—
५. अनुपसेव्यता/लोकविरुद्धता	—	प्याज, लहसुन आदि
६. अल्प फल-बहु विघात, अल्प भोज्य-बहु-उज्झणीय	वनस्पति घात	गन्ने की गड़ेरी, तेंदू, कलौंदा, फली-दार पदार्थ, नाली, सूरण
७, अपक्वता/अशस्त्र प्रतिहतता/अनग्निपक्वता	सभी वनस्पति प्रारम्भ में सजीव रहते हैं, अप्रासुक हैं	जल

इन आधारों पर शास्त्रों में अभक्ष्य पदार्थों की बाइस श्रेणियाँ बताई गई हैं। यह संख्या तेरहवीं सदी में स्थिर हुई है। इसके पूर्व शास्त्रों में अभक्ष्यों की कोटियाँ तो बताई गई, पर निश्चित संख्या का संकेत नहीं था। साध्वी मंजुला[४०] के अनुसार, इनका सर्वप्रथम उल्लेख धर्मसंग्रह नामक ग्रन्थ में मिलता है। सारणी ६ में तीन स्रोतों में प्राप्त बाइस अभक्ष्यों को दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक सूची में कुछ अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूची में समय-समय पर नाम जोड़े गये हैं, इसीलिये इसमें अनेक नामों कोटियों में पुनरावृत्ति भी है। उदाहरणार्थ, चलित रस में मद्य, मक्खन, द्विदल, आचार मुरब्बा समाहित होते हैं और बहुबीजक में बैंगन आ जाता है। इन्हें चार कोटियों में वर्गीकृत कर वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षित किया जाना चाहिये। अनेक प्रकार के प्राकृतिक एवं संश्लेषित खाद्य पदार्थों का युग है। उनकी भक्ष्याभक्ष्य विचारणा भी आवश्यक है। इस पर अन्यत्र[४०] चर्चा की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारणी ६. **विभिन्न स्रोतों में बाईस अभक्ष्य**

धर्मसंग्रह	जीव विचार प्रकरण[४१]	दौलतराम[४२] क्रियाकोष
(अ) किण्वित		
१. मद्य	मद्य	मद्य
२. मक्खन	मक्खन	मक्खन
३. चलित रस	चलित रस	किण्वन-पदार्थ
४. द्विदल	—	घोल बड़ा, दही बड़ा, द्विदल
(ब) **परिरक्षित :** ५. आचार-मुरब्बा	आचार-मुरब्बा	आचार-मुरब्बा
(स) **त्रस-स्थावर जीवघात**		
६–१०. पंचोदुंबर फल	पंचोदुंबर फल	पंचोदुंबर फल
११. मांस	मांस	मांस
१२. मधु	मधु	मधु
१३. अनंतकायिक	अनंतकायिक	कंदमूल
१४. बहुवीजक	बहुवीजक	बहुवीजक
१५. बैंगन	बैंगन	बैंगन
(द) **विविध**		
१६. विष	विष	विष
१७. वर्फ	वर्फ	वर्फ
१८. ओला	ओला	ओला
१९. तुच्छफल	तुच्छफल	—
२०. अज्ञातफल	अज्ञातफल	अज्ञातफल
२१. मृत जाति–लवण	कच्चे लवण	—
२२. रात्रि भोजन	रात्रि भोजन	रात्रि भोजन
— —	कच्ची माटी	—

निर्देश

१. स्वामी सत्यभक्त; **संगम,** मई १९८७।
२. शास्त्री, कैलाशचंद्र, पं०; **सागार धर्मामृत** (सं०), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८, पेज ४०।
३. आचार्य, कुंदकुंद; **अष्पाहुड़**, दि० जैन संस्थान, महावीरजी, १९६७, पेज ६९-७७।
४. आचार्य, उमास्वामी; **तत्वार्थ सूत्र,** वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९४९ पेज ३३७-५८।
५. आचार्य, समन्तभद्र; **रत्नकरंडश्रावकाचार,** ए० एल० जैन ट्रस्ट, भेलसा, १९५१।
६. जैन, डॉ० सागरमल; **श्रावकधर्म की प्रासंगिकता का प्रश्न,** पार्श्वनाथ विद्याश्रम, १९८३, पेज ७।
७. जैन, डॉ० नेमीचंद्र (सं०); **तीर्थंकर,** जनवरी, १९८७।
८. भट्ट, अकलंक; **तत्वार्थ राजवार्तिक-२,** भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७, पेज ५-७६।
९. वही; तत्वार्थ राजवार्तिक-१, वही, १९५३, पेज १४०।
१०. — **उत्तराध्ययन**, सन्मति ज्ञानपीठ. आगरा, १९७२, पेज १७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. आचार्य, बट्टकेर; **मूलाचार**, भारतीय ज्ञानपीठ, १९८४, पेज ३६९-७१ ।
१२. पंडित, आशाधर; **अनागार धर्मामृत**, वही, १३७७, पेज ४९५ ।
१३. — **ठाणं**, जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९८२ ।
१४. स्वामि, कुमार; **स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा**, रायचंद्र आश्रम, अगास, १९७८, पेज २६४ ।
१५. आचार्य, कुंदकुंद; **समयसार**, सी० जे० पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९३०, पेज १०९ ।
१६. देखिये, निर्देश १० पेज १५७ ।
१७. आर्य श्याम; **प्रज्ञापनासूत्र**, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८३ ।
१८. मेहता, मोहनलाल; **जैन आचार** पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९६६, पेज १६६ ।
१९. पंडित, आशाधर; **सगार धर्मामृत**, मा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८१ ।
२०. देखिये, निर्देश ११, भाग १ पेज ३६१ एवं भाग २ पेज ६५ ।
२१. सेन, मधु; **कल्चरल स्टडी आव निशीथचूर्णि**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९७५, पेज १२५ ।
२२. श्रुतसागर, सूरि; **तत्वार्थवृत्ति**, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९४९, पेज २५१ ।
२३. मुनि नथमल (सं०); **दशवैकालिक: एक समीक्षात्मक अध्ययन**, तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६७, पेज २०७ ।
२४. देखिये निर्देश ३, पेज ३३३ ।
२५. आचार्य, शिवकोटि; **भगवती आराधना**, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर १९१८, पेज ४१८ ।
२६. लोढा कन्हैयालाल; **मरुधर केसरी अभि० ग्रन्थ**, १९६८, पेज १३७–५४ ।
२७. स्वामी वीरसेन; **धवला**, खण्ड १–१, एस० एल० ट्रस्ट, अमरावती, १९३९, पेज ४०९ ।
२८. पाइक, आर० एल० एवं ब्राउन, पिरटिल; **न्यूट्रीशन**, बाइली-ईस्टर्न, दिल्ली, १९७०, अध्याय २–४ ।
२९. देखिये, निर्देश १२ पेज ४०९ ।
३०. उग्रादित्य, आचार्य; **कल्याण कारक**, सखाराम नेमचन्द्र ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९४०, पेज ५६ ।
३१. देखिये, निर्देश २५ पेज ६०७ ।
३२. देखिये, निर्देश ११ पेज ३७४ ।
३३. देखिये, निर्देश ३० पेज ५१ ।
३४. महाप्रज्ञ, युवाचार्य (सं० ; **दशवैकालिक**, जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९७४, पेज १९५ ।
३५. स्थविर; **औपपातिक सूत्र**, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, पेज ४७,५२ ।
३६. देखिये निर्देश ११ पेज २८६ ।
३७. वही, पेज ३६८ ।
३८. देखिये, निर्देश १४ पेज २५५ ।
३९. शास्त्री, पं० जगन्मोहनलाल (अनु०); **श्रावकधर्म प्रदीप**, वर्णीशोध संस्थान, काशी, १९८०, पेज १०७ ।
४०. साध्वी मंजुला; **अनुसंधान पत्रिका-९**, १९७५, पेज ५३ ।
४१. शान्तिसूरि; **जीवविचार प्रकरणं** जैन मिशन सोसाइटी, मद्रास, १९५०, पेज ५७ ।
४२. दौलतराम, पंडित; **जैन क्रियाकोष**, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता १९२७ ।
४०. जैन, एन० एल०; **जैन शास्त्रों में भक्ष्याभक्ष्य विचार**, (प्रेस में)
४१. युवाचार्य महाप्रज्ञ; **किसने कहा मन चंचल है**, तुलसी अध्यातम नीडं, लाडनूं, १९८५, पेज १२७ ।
४२. कुंदकुंदाचार्य; **प्रवचनसार**, पाटनी गुंथमाला, मारोठ, १९५६, पेज २८ ।
४३. नेमिचन्द्र सूरि; **प्रवचनसारोद्धार**, एल० डी० पु० संस्था, बम्बई, १९२२, पेज २५२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org